शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

मई : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, बैसाख, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : १

तो बेड़ा पार हो जाये ?

संत आत्मस्वभाव की अचिन्त्य महिमा बतलाते हैं। स्वभाव की अचिन्त्य महिमा को लक्ष में लेकर यदि एक बार भी अंतर से उछलकर उसका बहुमान करे तो संसार से बेड़ा पार हो जाये। चैतन्यस्वभाव का बहुमान करने से अल्प काल में ही उसका स्वसंवेदन प्रगट होकर मुक्ति हुये बिना नहीं रहती।

अरे जीव! एक बार अन्य सब भूल जा.... समस्त संसार को भूल जा.... और अपनी स्वभावशक्ति को सँभाल! तुझमें परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति है; उसके सन्मुख होकर निज शक्ति को सँभालते ही तुझे अपूर्व आनन्द का वेदन होगा और संसार से बेड़ा पार हो जायेगा।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८१]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

चैतन्य सरोवर से प्रवाहित शांति-सरिता

परम शांत रस की सरिता तो चैतन्य सरोवर में एकाग्र होने से बहती है; बाह्य भावों में से शांति की सरिता नहीं बहती। जहाँ पानी भरा हो, वहाँ से प्रवाह आता है; शांति एवं हितरूप जल तो अंतरंग चैतन्यसरोवर में भरा है; उस चैतन्यसरोवर में से ही (उसमें एकाग्र होने से ही) हित और शांति की सरिता प्रवाहित होती है; अन्य किसी प्रकार आत्मा में शांत रस की सरिता नहीं बहती।

इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—

हे जीवों! यदि तुम्हें अपने आत्मा में शांत रस की सरिता प्रवाहित करना हो तो आत्मस्वरूप में एकाग्र होकर आत्मनिष्ठ रहना ही परम-आवश्यक कार्य है; जो उससे बाह्य है, वह सब त्याज्य है। [नियमसार, गाथा १५० के प्रवचन से]

★

जैनदर्शन शिक्षणवर्ग

ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में विद्यार्थियों के लिये सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग चालू होगा जो कि-वैशाख सुदी १४ मंगलवार ता० १०-५-६० से शुरु होकर जेठ सुदी ६ ता० ३१-५-६० तक चलेगा। यह शिक्षणवर्ग इस समय चार साल बाद खुला है, अतः हरेक जिज्ञासु विद्यार्थी धार्मिक शिक्षण का लाभ लेकर छुट्टियों का सदुपयोग करें, ऐसी खास प्रार्थना है। विद्यार्थियों के लिये रहने, जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी। आने के लिये प्रथम पत्र द्वारा जवाब मँगा लेवें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

मई : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, बैसाख, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : १

आत्मविद्या और धर्म की क्रिया

[बम्बई में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन, माघ कृष्णा ३, वीर सं. २४८५]

समयसार-कर्ताकर्म अधिकार

देह से भिन्न यह चैतन्यतत्त्व अनादि-अनंत है; अनादि काल से संसार परिभ्रमण करते हुये उसने अपने वास्तविक स्वरूप की पहिचान का सच्चा प्रयत्न कभी क्षणमात्र भी नहीं किया, जो कुछ किया वह बाह्य लक्ष से किया है किन्तु उससे उसे किंचित् शांति-सुख या धर्म की प्राप्ति नहीं हुई। आत्मतत्त्व को जाने बिना अनंत बार अशुभ तथा शुभभाव किये किन्तु उससे संसार भ्रमण का अन्त नहीं आया। यह तो संसार भ्रमण के अंत की बात है।

जगत की अनेक प्रकार की विद्याओं में चैतन्यतत्त्व को जाननेवाली अध्यात्मविद्या ही सर्वोत्कृष्ट विद्या है। लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये विद्या पढ़ने का भाव तो पाप है, और कदाचित् सेवादि का भाव हो तो वह पुण्य है, किन्तु उसके द्वारा संसार-भ्रमण का अंत नहीं होता। चैतन्यतत्त्व को जाननेवाली अध्यात्मविद्या के द्वारा ही संसार भ्रमण का अन्त आता है। वह अध्यात्मविद्या भारत की मूल वस्तु है और उसी की यह बात है। आजकल तो जीवों को अध्यात्मविद्या दुर्लभ हो गई है। एक बार भी यदि अध्यात्मविद्या सीख ले तो जीव के संसार-भ्रमण का अंत आ जाये।

जीवतत्त्व बाह्य संयोगों से भिन्न वस्तु है, बाह्य संयोग उसके आधीन नहीं हैं। देखो, कोई जीव वर्तमान में हिंसा करता हो, झूठ बोलता हो, चोरी करता हो, तथापि उसे उसे बाह्य में सुख-सुविधायें दिखाई देती हैं; तो क्या हिंसादि पाप के फल में वह सुख-सुविधा है ?—नहीं, हिंसादि पापभाव वह कारण और बाह्य अनुकूलता उसका कार्य—ऐसा कारण-कार्य का मेल नहीं होता।

हिंसादि भावों से तो नवीन पापबंध होता है, और जो बाह्य अनुकूलता-सुख-सुविधा दिखाई देती है, वह पूर्व के पुण्य का फल है, उसी प्रकार वर्तमान में किसी जीव को दया-भक्ति-न्यायवृत्ति आदि शुभ परिणाम होने पर भी उसे बाह्य में असुविधा भी दिखाई देती है, उसका कारण ?—वर्तमान में जो पुण्यभाव है, वह कारण और प्रतिकूलता उसका कार्य—ऐसा कारण-कार्य का मेल नहीं है। वर्तमान शुभपरिणाम होने पर भी उसे जो प्रतिकूल संयोग दिखाई देते हैं, वह तो पूर्व के किसी पाप का फल है। इस प्रकार बाह्य संयोग तो पूर्वकालीन पुण्य-पाप के आधीन है; जीव की वर्तमान इच्छा के आधीन नहीं हैं। किन्तु यहाँ अब ऐसा बतलाना है कि जीव का धर्म बाह्य संयोग के आधीन नहीं है। बाह्य में अनुकूल संयोग हो या प्रतिकूल हो, किन्तु चैतन्यस्वभाव में अंतर्मुख एकाग्रता द्वारा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, सो धर्म की क्रिया है; वह क्रिया जीव की स्वतन्त्र स्वभावभूत क्रिया है। धर्मी जीव ऐसी स्वभाव क्रिया का कर्ता होता है। अज्ञानी जीव आत्मविद्या को भूलकर विकारी क्रिया का कर्ता होता है, वह अधर्म की क्रिया है, उसका यहाँ मोक्षमार्ग में निषेध है।

यह "समयसार" शास्त्र अध्यात्मविद्या का उत्कृष्ट शास्त्र है। चैतन्यविद्या ही सच्ची विद्या है; उसमें अनंत अपूर्व अचिंत्य पुरुषार्थ है। चैतन्य विद्या कहो, आत्मविद्या कहो अथवा धर्म की विद्या कहो, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द है तथा वही मोक्ष के कारणरूप क्रिया है। पुण्य की क्रिया है,वह तो विकारी क्रिया है, उसमें आकुलता है, बंधन है, उसका फल संसार है; परंतु अज्ञानीजन बाह्य दृष्टि से पुण्य की क्रिया को ही देखते हैं और उसी को वे मोक्षमार्ग मानते हैं, अंतर की निर्विकारी ज्ञानक्रिया को वे नहीं जानते। जिस प्रकार खूँटे से बँधी हुई भैंस कूदफाँद करती है, तथापि खूँटा तो स्थिर है; वहाँ साधारण जन भैंस की उछलकूद देखकर उसकी शक्ति का माप निकालते हैं, किन्तु स्थिर खूँटे की शक्ति भैंस की अपेक्षा अधिक है—ऐसा विचक्षण पुरुष देखते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जन बाहरी उछलकूद जैसी शारीरिक क्रिया को या शुभपरिणाम को ही देखकर उसे धर्म की क्रिया मानते हैं, किन्तु देह से पार और राग से भी पार ऐसी चैतन्य क्रिया को वे नहीं देखते। धर्मी जीव अंतर में देह के तथा राग से पार ऐसी स्थिर ज्ञानक्रियारूप परिणमित होते हैं, वह धर्म है। धर्म में अतीन्द्रिय-आनन्द का वेदन है, वह आत्मरस है। अज्ञानी अनादि काल से बाह्य रस में सुख मानकर विकाररस का वेदन कर रहे हैं किन्तु उन्हें अंतर के अतीन्द्रिय आनन्दरूप आत्मरस का वेदन नहीं है। आत्मरस के वेदन बिना अनंत कालीन दुःखरूप क्षुधा का अन्त नहीं आता और आत्मा की शांति प्राप्त नहीं होती। जगत में अनादि काल से चैतन्यविद्या के साधक संत होते आ रहे

हैं, वे चैतन्यविद्या द्वारा अपनी पूर्णानन्ददशा को साधकर मुक्त होते हैं। उन्होंने जगत को सच्ची चैतन्यविद्या बतलाई और जो पात्र जीव थे, वे अपनी पात्रतानुसार समझे। जो समझे उन्होंने अपना हित साधन किया, किन्तु दूसरों को समझाने की शक्ति किसी में नहीं है। जगत के जीव स्वाधीन हैं, कोई उन्हें परिभ्रमण कराये अथवा उबार ले – ऐसी पराधीनता नहीं है। भाई! ऐसा मनुष्य अवतार पाकर अपनी आत्मविद्या सीख कि जिस विद्या से तेरा जहाज भवसागर से पार हो जाये। बाह्य क्रियाएँ तो तुझसे भिन्न हैं और रागादि विकारी क्रियाओं में भी तेरी शांति नहीं है। तेरी शांति तेरी चैतन्यक्रिया में है, इसलिये तू अपने चिदानन्दस्वभाव को पहिचान। अपने आत्मा को समझने की शक्ति तुझमें न हो, यह कैसे हो सकता है? तुझमें वह शक्ति है और उसे जानकर ही संत तुझे उसका उपदेश देते हैं, इसलिये हे भाई! ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार प्राप्त किया तो उसमें सत्समागम से अपनी आत्मशक्ति का विश्वास करके, आत्मा को समझने का उद्यम कर.... चैतन्यविद्या द्वारा आत्मस्वरूप को समझने से भवभ्रमण का अंत आयेगा और अपूर्व अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होगी। अंतर की ऐसी आत्मविद्या ही धर्म की क्रिया है; वही मोक्ष का कारण है; मोक्ष के लिये भगवान ने उस क्रिया का उपदेश दिया है और यह क्रिया की शुरुआत गृहस्थदशा में भी हो सकती है।

★

जड़ चेतन के भिन्न-भिन्न स्वभाव की घोषणा

[प्रवचनसार गाथा १८३-८५ के प्रवचनों से]

(१) **प्रश्न** – मोक्ष का कारण क्या है?

उत्तर – स्वद्रव्य में प्रवृत्ति, सो मोक्ष का कारण है।

(२) **प्रश्न** – बंध का कारण क्या है?

उत्तर – परद्रव्य में प्रवृत्ति, सो बंध का कारण है।

(३) **प्रश्न** – जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति कब तक होती है?

उत्तर – जब स्व-पर के विभाग का ज्ञान करे, तभी स्वद्रव्य में प्रवृत्ति होती है।

(४) **प्रश्न** – जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर – स्व–पर के विभाग का अज्ञान, वह परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है।

(५) **प्रश्न** – परद्रव्य प्रवृत्ति का अर्थ क्या ?

उत्तर – परद्रव्य को अपना मानकर उसमें वर्तन करना, सो परद्रव्य प्रवृत्ति है।

(६) **प्रश्न** – कौन सा जीव परद्रव्य को अपना मानता है ?

उत्तर – जो जीव स्व–पर के भिन्न–भिन्न स्वभाव को नहीं जानता, वही मोह के कारण शरीरादि परद्रव्य को अपना मानता है।

(७) **प्रश्न** – स्वद्रव्य का लक्षण क्या है ?

उत्तर – अपने अनुभव में आनेवाली चेतना, वह स्वद्रव्य का लक्षण है।

(८) **प्रश्न** – स्वद्रव्य क्या और परद्रव्य क्या ?

उत्तर – चेतना लक्षणवाला अपना एक आत्मा ही आत्मा का स्वद्रव्य है, शेष अन्य जीव अथवा शरीरादि समस्त पदार्थ इस आत्मा के लिये परद्रव्य हैं।

(९) **प्रश्न** – आत्मा कर्त्ता है ?

उत्तर – हाँ, आत्मा कर्त्ता है।

(१०) **प्रश्न** – आत्मा काहे का कर्त्ता है ?

उत्तर – अपने भाव को करता हुआ आत्मा वास्तव में अपने भाव का ही कर्त्ता है।

(११) **प्रश्न** – आत्मा, पुद्गल का कर्त्ता है या नहीं ?

उत्तर – नहीं, आत्मा किसी भी पुद्गलमय भाव का (शरीर–मन–वाणी–कर्म आदि का) कर्त्ता नहीं है।

(१२) **प्रश्न** – आत्मा अपने भावों को ही क्यों करता है ?

उत्तर – क्योंकि वे भाव उसका स्व–धर्म होने से आत्मा को उसरूप होने की शक्ति की संभावना है; इसलिये स्वतंत्ररूप से अपने भावों को करता हुआ आत्मा उनका कर्त्ता है।

(१३) **प्रश्न** – सम्यग्दर्शन का कर्त्ता कौन है ?

उत्तर – जीव ही सम्यग्दर्शन का कर्त्ता है, क्योंकि जीव में उसरूप परिणमित होने की शक्ति है, इसलिये वह स्वतंत्ररूप से उसका कर्त्ता है।

(१४) **प्रश्न** – राग का कर्त्ता कौन है ?

उत्तर – राग परिणाम का कर्त्ता भी जीव ही है, क्योंकि जीव में उसरूप परिणमित होने की शक्ति की संभावना है।

(१५) प्रश्न – आत्मा, पुद्गल के भावों को क्यों नहीं करता ?

उत्तर – कभी भी कर सकता नहीं क्योंकि वे पर के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं, इसलिए आत्मा को उनरूप होने की शक्ति की संभावना नहीं है, इसलिये आत्मा, पुद्गल के किन्हीं भी भावों को नहीं करता।

(१६) प्रश्न – आत्मा, शरीर की क्रिया का कर्त्ता क्यों नहीं है ?

उत्तर – क्योंकि शरीर की क्रिया पुद्गल का धर्म है, आत्मा में उसरूप होने की शक्ति का अभाव है, इसलिए आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है।

(१७) प्रश्न – आत्मा, वचन का कर्त्ता क्यों नहीं है ?

उत्तर – क्योंकि वचन तो पुद्गल का धर्म है, आत्मा में वचनरूप होने की शक्ति की संभावना नहीं है, इसलिये आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है। स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिये व्यवहार कर्त्ता का कथन हो किन्तु यह उपचार मात्र कथन है।

(१८) प्रश्न – संतों ने काहे की घोषणा की है ?

उत्तर – संतों ने जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वभाव की घोषणा की है।

(१९) प्रश्न – आत्मा असद्भूत व्यवहारनय से तो परद्रव्य का ग्रहण-त्याग करता है या नहीं ?

उत्तर – नहीं, आत्मा किसी भी प्रकार परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है, इसलिये ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कर्त्ता नहीं है।

[जो व्यवहारनय से दूसरे द्रव्य को कर्त्ता भोक्ता मान लेता है, वह दो द्रव्य पृथक् नहीं मानते और व्यवहार का अर्थ भी नहीं समझते।]

(२०) प्रश्न – यह जानने में धर्म कहाँ आया ?

उत्तर – स्वद्रव्य और परद्रव्य दोनों को भिन्न-भिन्न जानकर, परद्रव्य का किंचित् ग्रहण-त्याग मेरे आत्मा में नहीं है—ऐसा बराबर निर्णय करने से जीव, परद्रव्यों से निरपेक्ष होकर अपने स्वद्रव्य में प्रवृत्त होता है; – वह स्वद्रव्यप्रवृत्ति, सो धर्म है।

निजस्वरूप में लगाया हुआ अतीन्द्रिय उपयोग सुख है

[''प्रवचनसार'' सुख-अधिकार के प्रवचन से]

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, इन्द्रियों से पार है तथा उसका सुख भी ऐसा ही है। ऐसा स्वाधीन ज्ञान-सुख स्वभाव होने पर भी, उसे भूलकर अपने ज्ञान और सुख को इन्द्रियाधीन मानता है, तब जीव पराधीन होकर अज्ञान और दुःखरूप परिणमित होता है; इसलिये पराधीन ऐसा वह इन्द्रियज्ञान तथा इन्द्रियसुख हेय है-निन्दनीय है। और ज्ञानस्वभाव में अंतर्मुख होकर जब अतीन्द्रियज्ञानरूप से परिणमित होता है, तब अतीन्द्रिय स्वाधीन आनन्द प्रगट होता है; इसलिये स्वाधीन ऐसा वह अतीन्द्रियज्ञान तथा अतीन्द्रियसुख सचमुख उपादेय है-प्रशंसनीय है।

अरे जीव! सुख का साधन तो तेरा अतीन्द्रियज्ञान है; उसके अतिरिक्त तेरा इन्द्रियज्ञान भी सुख का साधन नहीं है; तो फिर उस इन्द्रियज्ञान के विषयभूत बाह्य पदार्थों में तो तेरा सुख कहाँ से होगा? बाह्य पदार्थों में युक्त होनेवाला ज्ञान तो आकुल-व्याकुल दुःख का ही साधन है; इसलिये बाह्य विषयों में से सुख प्राप्त करने का प्रयास छोड़ दे और उपयोग को अंतर्मुख करके निजस्वरूप में लगा, तो तुझे अपने स्वभाव के अतीन्द्रियसुख का संवेदन होगा। इस प्रकार निजस्वरूप में लगाया हुआ अतीन्द्रिय उपयोग ही सुख है। इन्द्रियाधीन होकर बाह्य विषयों में भटकता हुआ उपयोग, वह आकुलतामय दुःख का उत्पादक है।

नेत्र के आधीन हुआ ज्ञान अधिक से अधिक मूर्तिकरूप को जान सकता है; किन्तु उसमें चैतन्य के रूप को देखने की शक्ति नहीं होती; रसना इन्द्रिय के आधीन हुआ ज्ञान जड़ के स्थूल रस को मुश्किल से जान सकता है, किन्तु चैतन्य के आनन्दरस का स्वाद कैसा है, उसे जानने की शक्ति उसमें नहीं है; उसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय के आधीन हुआ ज्ञान अधिक से अधिक जड़ पदार्थों के मूर्त स्पर्श को जानता है किन्तु अतीन्द्रिय आत्मा का स्पर्श करने की-अनुभव करने की शक्ति उसमें नहीं है।—ऐसा बाह्य मूर्त विषयों में ही भटकता हुआ पराधीन इन्द्रियज्ञान, आत्मा को अतीन्द्रिय सुख का साधन कैसे बन सकता है?—नहीं बन सकता। इस प्रकार आत्मा के सुख का साधन न होने से पराधीन ऐसा इन्द्रियज्ञान, वह सचमुच ज्ञान नहीं है किन्तु अज्ञान है; निन्दनीय है; निम्नकोटि का है,

इसलिये हेय है। और आत्मा के अंतर्स्वभाव में उन्मुख होकर स्वाधीनरूप से वर्तता हुआ अतीन्द्रियज्ञान ही परम सुख के साधनभूत होने से यथार्थ ज्ञान है; वही प्रशंसनीय है, उत्तम है और उपादेय है।

पहले समझ कि—

मैं स्वयं ज्ञान एवं सुखस्वरूपी हूँ।
मूर्त इन्द्रियाँ जड़ हैं, वे मुझसे भिन्न हैं;
उन इन्द्रियों में मेरा ज्ञान या सुख नहीं है।

ऐसा समझकर—

इन्द्रियों तथा इन्द्रिय विषयों के ओर की रुचि छोड़,
और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव में रुचि लगा;
यही अतीन्द्रिय सुख का उपाय है।

भाई! एक बार इस बात को लक्ष में तो ले! तू विचार तो कर कि "मेरा सुख तो मेरे आत्मा में है, कहीं बाहर नहीं है; तो फिर अपने उपयोग को अंतर्मुख करके आत्मा में लगाने से मुझे सुख होगा या उसे बहिर्मुख करके बाह्य विषयों में जोड़ने से? जहाँ सुख न हो, वहाँ उपयोग को जोड़ने से सुख कैसे होगा? नहीं हो सकता। जहाँ सुख स्वभाव है, उसमें उपयोग को जोड़ने से उस सुख का वेदन होता है; इसलिए अपने स्वरूप में उपयोग को लगाने से ही मुझे अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।" ऐसा विचार कर, बराबर निर्णय करके अंतर्मुख हो; अंतर्मुख उपयोग में तुझे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होगा। इस प्रकार—

"निज स्वरूप का उपयोग वह सुख है।"

पूज्य गुरुदेव यही सन्देश देते हैं कि—

निज स्वरूप का उपयोग वह सुख है।
उसे आबाल-वृद्ध कर सकते हैं।
इसके अतिरिक्त शांति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

मोक्ष के लिये किसकी सेवा करें ?

[उमराला के प्रवचन से : ज्येष्ठ शुक्ला ४, वीर सं० २४८४]

यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है; वह पर-वस्तुओं से अत्यन्त भिन्न है; परवस्तुओं में उसका आनन्द नहीं हो सकता। किन्तु अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर और बाह्य में आनन्द मानकर जीव चार गतियों में भ्रमण कर रहा है। आनन्द तो आत्मा में है, किन्तु उस आनन्द का अर्थी होकर अंतर में कभी उसकी खोज नहीं की है। यहाँ शिष्य आनन्द का अर्थी होकर श्रीगुरु से उसकी प्राप्ति का उपाय पूछता है कि प्रभो! आत्मा के आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार होती है? किसकी सेवा करने से आत्मा मुक्ति को प्राप्त होता है? ऐसा पूछनेवाले मोक्षार्थी शिष्य को उत्तर देते हुए आचार्यदेव इस समयसार १७-१८वीं गाथा में कहते हैं कि—

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥

जिस प्रकार धन का अर्थी पुरुष राजा की सेवा करता है—उसका दृष्टान्त देकर कहते हैं कि—

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

यहाँ जीव को 'राजा' कहा है। समस्त पदार्थों में श्रेष्ठरूप से राजता है—शोभा देता है; इसलिये जीव राजा है। उसमें मोक्ष देने की शक्ति है। जिस प्रकार राजा की सेवा करके उसे रिझाने से वह अनेक प्रकार की लक्ष्मी आदि देता है, उसी प्रकार इस चैतन्य राजा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसी का अनुचरण—इस प्रकार उसी की सेवा-आराधना करके उसे रिझाने से वह मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करता है। इसलिये मोक्षार्थी जीव को मोक्ष के लिये सर्व उद्यम से इस चैतन्य राजा का सेवन करना चाहिये। उसके सेवन से साध्य की अर्थात् मोक्ष की सिद्धि होती है।

देखो, इसमें दो बातों की जिम्मेवारी है—

एक तो जीव सच्चा मोक्षार्थी होना चाहिये; और दूसरे, प्रयत्नपूर्वक आत्मा की आराधना करे अर्थात् पुरुषार्थपूर्वक आत्मा को जाने, उसकी श्रद्धा करे तथा उसमें स्थिर हो। यह आत्मसिद्धि का उपाय है।

प्रथम आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान किस प्रकार करना चाहिये? सो कहते हैं। आत्मा को ज्ञान,

रागादि अनेक प्रकार के भाव एक साथ अनुभव में आते होने पर भी, भेदज्ञान में प्रवीणता से मोक्षार्थी जीव को ऐसा जानना चाहिये कि इन सब भावों में जो ज्ञानरूप से अनुभव में आता है, वही मैं हूँ। इसप्रकार ज्ञानानुभूति स्वरूप आत्मा को जानकर उसकी नि:शंक श्रद्धा करना चाहिये कि "यही मैं हूँ।" ज्ञानस्वरूप आत्मा की नि:शंक श्रद्धा-ज्ञान करने पर अन्य समस्त भावों से भेद हो जाने के कारण जीव नि:शंक भाव से अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर होने में समर्थ होता है; इसलिये उसे स्वरूप का चारित्र उदय को प्राप्त होता है। इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा उसे साध्यरूप आत्मा की सिद्धि होती है।

पुरुषार्थ पूर्वक आत्मा की ऐसी आराधना करना वह मोक्ष का उपाय है।

आबाल-वृद्ध सबको ज्ञानस्वरूप आत्मा सदाकाल अनुभव में आता है, तथापि अज्ञान के कारण वे अपने ज्ञान को रागादि परभावों के साथ एकमेक रूप अनुभव करते हैं; "रागादि हैं सो मैं ही हूँ"—इसप्रकार ज्ञान, रागादि में ही नि:शंकरूप से वर्तते हैं; रागादि से भिन्न जो यह ज्ञान है, वही मैं हूँ—इसप्रकार राग और ज्ञान का भेदज्ञान न होने से, राग से भिन्न आत्मा को वे नहीं जानते, इसलिये उन्हें उसकी श्रद्धा भी नहीं होती; और श्रद्धा-ज्ञान के बिना स्थिरता कहाँ से होगी? इसलिये चारित्र भी नहीं होता।

इसलिये प्रथम तो सर्व पक्षों से बराबर जानना चाहिये कि आत्मा क्या वस्तु है? जो ज्ञानस्वरूप से अनुभव में आता है, वही मैं हूँ—ऐसा नि:शंकरूप से जानकर उसी में अपनेरूप वर्तन करना, वह मोक्ष का उपाय है। इसप्रकार मोक्षार्थी जीव को मोक्ष के लिये आत्मा की ही सेवा करना चाहिये, अर्थात् उसका ज्ञान-श्रद्धान करके उसमें स्थिर होना चाहिये - ऐसा आचार्य भगवान का उपदेश है।

अज्ञानी को धर्म नहीं होता, क्योंकि

अज्ञानी को शुभराग तो होता है, किन्तु उसे धर्म नहीं होता, क्योंकि शुभराग वह धर्म नहीं है। यदि शुभराग धर्म अथवा धर्म का साधन हो तो शुभरागवाले अज्ञानी को क्यों धर्म नहीं होता?—उसे क्यों मोक्षमार्ग नहीं होता? इसलिये स्पष्ट है कि—अशुभराग की भाँति शुभराग भी धर्म अथवा धर्म का साधन नहीं है। किन्तु उस राग से विलक्षण—ऐसे सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ही। धर्म तथा मोक्षमार्ग हैं। (- प्रवचन से)

धर्म का सम्बन्ध किसके साथ है ?

आत्मा के धर्म का सम्बन्ध किसी अन्य के साथ नहीं, किन्तु धर्मी ऐसे अपने आत्मा के साथ ही धर्म का सम्बन्ध है।

(१) क्या भगवान के आत्मा के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?..... नहीं।

(२) क्या महाविदेह आदि क्षेत्रों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?.... नहीं।

(३) क्या चौथा काल आदि कालों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?... नहीं।

(४) क्या रागादि भावों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?.... नहीं।

—इसप्रकार किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल या परभाव के साथ आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अपने स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव के साथ ही अपने धर्म का सम्बन्ध है; वह इसप्रकार—

(१) अनंत शक्ति के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्य द्रव्य के साथ ही धर्म की एकता है।

(२) असंख्य प्रदेशी अपना चैतन्य क्षेत्र ही धर्म का क्षेत्र है।

(३) स्वभाव में अभेद हुई स्वपरिणति ही धर्म का काल है।

(४) ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि अनंत गुण ही आत्मा के धर्म का भाव है।

—ऐसे स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव के साथ ही आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है।

इसलिये हे जीव! परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल और परभावों से अत्यन्त भिन्नता जानकर अपने स्वभाव में अंतर्मुख हो!

पूज्य गुरुदेव की प्रवचन-वाटिका से चुने हुए ७१ पुष्पों की

⌘ ⌘ ⌘ पुष्पमाला ⌘ ⌘ ⌘

वैशाख शुक्ला दूज के दिन पूज्य गुरुदेव की ७१ वीं वर्षगाँठ के अवसर पर श्रद्धांजलिरूप से यह ७१ पुष्पों की पुष्पमाला गूँथी गई है। पूज्य गुरुदेव सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के आराधक हैं, और सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की महिमा ही उनके उपदेश का प्रधान-स्वर है... उसी को यहाँ व्यक्त किया गया है। गुरुदेव का उपदेश झेलकर इस सहज-सर्वज्ञ-स्वभावी आत्मा की महिमा को हम हृदय में उतारें... और अन्तर में परिणमित करें—यही गुरुदेव के प्रति परमार्थि श्रद्धांजलि है। गुरुदेव के प्रताप से ऐसी श्रद्धांजलि अर्पित करने में समर्थ होकर, भावनापूर्वक यह पुष्पमाला गूँथी है। —ब्र. हरिलाल जैन।

१— श्री सर्वज्ञ भगवन्तों को नमस्कार हो।

२— आत्मा सहज-सर्वज्ञस्वभावी है।

३— उस स्वभाव में एकाग्रता... वह सर्वज्ञ की वाणी का सार है।

४— सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा मोक्ष का धाम है।

५— सर्वज्ञस्वभावी आत्मा विकार का धाम नहीं है।

६— अन्तर्मुख होकर ऐसे सहज-सर्वज्ञस्वभाव की संवेदन सहित प्रतीति, सो सम्यग्दर्शन है।

७— जो सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को राग से लाभ मानता है, वह अधर्मी है—कुगुरु है।

८— ऐसे कुगुरु के आदर का भाव सम्यक्त्वी-धर्मात्मा को नहीं आता।

९— धर्मी के शुभराग का झुकाव शुद्धात्म परिणति के निमित्तों की ओर होता है।

१०— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में एकाग्र हुए मोक्षमार्गी मुनिवर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं।

११— सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा उसमें एकाग्रता सो धर्म है।

१२— धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं होता।

१३— जिसे धर्मात्मा के प्रति प्रेम नहीं है, उसे धर्म का प्रेम नहीं है, और इसलिये वह धर्मी नहीं है।

१४— जो अन्तर के यथार्थ प्रयत्न द्वारा समझना चाहे, वह सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को अन्तर्मुहूर्त में समझ सकता है।

१५— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, राग के उपाय द्वारा अनन्त काल में भी समझ में नहीं आ सकता।

१६— प्रभो! तुझे अनन्त काल में ऐसा मनुष्य भव प्राप्त हुआ है; उसमें आत्मा की दरकार करके अपने सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को समझ।

१७— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को समझने पर ही अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है।

१८— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को समझते ही आत्मा में मोक्ष को प्रतिज्ञा आ जाती है।

१९— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को समझते ही जीव सर्वज्ञ का लघुनन्दन बन जाता है।

२०— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा स्वयं ही अपना परमेश्वर है।

२१— सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा स्वयं ही अपना परम आराध्यदेव है।

२२— भाई, तुझे दोष टालकर गुण प्रगट करना है?-हाँ।

२३— तो तू समझ कि दोष तेरा स्वभाव नहीं है और गुण तेरा स्वभाव है।

२४— जो दूर हो जाये, वह स्वभाव नहीं हो सकता, और जो स्वभाव हो, वह बाहर से नहीं आता।

२५— मिथ्यात्व-रागादि दोष दूर हो जाते हैं, इसलिये वह तेरा स्वभाव नहीं है।

२६— ज्ञानादि गुण तेरा स्वभाव है, वह बाहर से नहीं आता।

२७— ''निजभाव को छोड़े नहीं, परभाव को न ग्रहण करे;
जाने-देखे जो सर्व सो मैं-यहै ज्ञानी चिंतवे।''

२८— प्रभो! तुझे अपने स्वभाव की प्रतीति न आये, तो तूने क्या किया?

२९— अपने सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति के बिना तू सर्वज्ञदेव को कैसे पहिचानेगा?

३०— निजस्वभाव के अस्तित्व में से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

३१— जिसे निजस्वभाव के अस्तित्व की श्रद्धा नहीं है, उसे धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

३२— आत्मा अनेकान्तस्वभावी है; उसके साथ धर्मी की मित्रता हो गई है।

३३— अनेकान्त के साथ मित्रता से जिनका चित्त पवित्र हुआ है, ऐसे धर्मात्मा शुद्ध जैन हैं।

३४— रत्नत्रय की आराधना करनेवाले सन्तों को शुभोपयोग के समय अन्य रत्नत्रय-आराधक सन्तों के प्रति वात्सल्य उत्पन्न होता है।

३५— रत्नत्रय की आराधना करनेवाले सन्तों को भी जो शुभोपयोग है, वह धर्म नहीं है।

३६— धर्म का प्रथम चरण सम्यग्दर्शन है।

३७— जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ स्वभाव में कोई शंका नहीं रहती।

३८— जिसने भवरहित ऐसे सर्वज्ञदेव को पहिचाना है, उसे अनन्त भव की शंका नहीं होती।

३९— 'मेरे अनन्त भव होंगे'—ऐसी जिसे शंका है, उसने भवरहित सर्वज्ञ भगवान को नहीं पहिचाना है।

४०— सर्वज्ञ का निर्णय करने से अपने मोक्ष का भी निर्णय हो जाता है।

४१— सर्वज्ञ का सच्चा निर्णय और अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय—यह दोनों एक साथ होते हैं।

४२— साधुपद के बिना सम्यग्दर्शन हो सकता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना साधुपद नहीं होता।

४३— सम्यग्दर्शन के बिना साधुपद नहीं होता और साधुपद के बिना सिद्धपद नहीं होता।

४४— जो सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को राग से भिन्न जानता है, उसी की अनेकान्त के साथ मित्रता है।

४५— जो सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को राग से लाभ मानता है, उसे अनेकान्त के साथ शत्रुता है—मित्रता नहीं है।

४६— जिसे अनेकान्त के साथ मित्रता है, वही अरहन्तदेव का सच्चा भक्त है, वही सच्चा जैन है।

४७— जिसे अनेकान्त के साथ शत्रुता है, वह अरहन्तदेव का भक्त नहीं है, जैन नहीं है।

४८— धर्मात्मा सम्यक्त्वी या साधु को भी रोग हो सकता है, किन्तु केवली भगवान को रोग नहीं हो सकता।

४९— सहज-सर्वज्ञस्वभाव में एकाग्रता, वह सर्वज्ञ होने का उपाय है।

५०— जो सर्वज्ञता का साधक है, उसे राग में साधनबुद्धि नहीं होती।

५१— हे जीव! मोक्ष के लिये सन्तों को आज्ञा है कि अपने सहज-सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की ओर जा... उसे ध्येय बनाकर उस ओर उन्मुख हो।

५२— सहज स्वभाव को ध्येय बनाने से आनन्द की धारा उल्लसित होती है।

५३— जिसे अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है, उसे इन्द्रिय विषयों की तृष्णा होती ही है।

५४— जिसे राग की रुचि है, उसे इन्द्रिय विषयों की ही रुचि है, क्योंकि राग का फल इन्द्रिय विषय ही है।

५५— धर्मात्मा को राग के समय शुद्धता का अंश होता है, किन्तु राग में कहीं शुद्धता का अंश नहीं है।

५६— मोक्षमार्गी मुनिवरों को शुद्धोपयोग की मुख्यता है; धर्मी गृहस्थ को शुभोपयोग की मुख्यता है।

५७— गृहस्थ को शुभ की मुख्यता कही, उससे ऐसा नहीं समझना कि वह धर्म है—धर्म तो उस समय वर्तती हुई शुद्धता ही है।

५८— अपने सहज-ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही शुद्धता होती है।

५९— अरे जीव! अपने सहज-ज्ञानस्वभाव को एक बार अपूर्व उल्लास भाव से लक्ष में ले.. तो तेरा बेड़ा पार हो जाये...

६०— स्वभाव के विश्वास से स्वाधीनता और संयोग के विश्वास से पराधीनता है।

६१— हे जीव! वीतराग के वचनामृत तुझे तेरे स्वभाव के परम शांतरस का पान कराते हैं।

६२— हे जीव! कहीं अच्छा न लगे तो आत्मा में ही रुचि लगा, आत्मा ही आनन्द का धाम है।

६३— प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र, आनन्दस्वरूप, तथा सहज-सर्वज्ञस्वभावी है; अपने स्वभाव के आश्रय से विकास करके वह पूर्ण आनन्द और सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

६४— तीर्थंकर भगवान द्वारा कहा हुआ और सन्तों द्वारा ग्रहण किया हुआ मोक्ष का मार्ग त्रिकाल एक ही प्रकार का है।

६५— चिदानन्दस्वभाव की सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान करके शुद्धोपयोग द्वारा उसमें एकाग्रता सो मोक्ष का मार्ग है।

६६— सीमंधर भगवान का स्मरण करके गुरुदेव कहते हैं कि—विदेहक्षेत्र में भगवान विराजमान हैं, वहाँ तो यह मार्ग अबाधित रूप से चल रहा है।

६७— गुरुदेव बालक की भाँति कहते हैं कि—अहो! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का हम पर महान उपकार है, हम उनके चरणों के दास हैं।

६८— हे रत्नत्रयधारी सन्त! हमारे आँगन में पधारो और पवित्र रत्नत्रय द्वारा हमारे जीवन को पवित्र करो!

६९— त्रिकाल के तीर्थंकरों-गणधरों-सन्तों को स्मरण करके आज के मंगल अवसर पर हम उन्हें नमस्कार करते हैं—वे हमारा मंगल करें!

७०— हे गुरुदेव! आज के मंगल अवसर पर हजारों-लाखों भक्त अत्यन्त हर्षपूर्वक आपका अभिनन्दन करते हैं और परम भक्तिपूर्वक आपसे प्रार्थना करते हैं कि हमें मोक्ष का मंगल-आशीर्वाद प्रदान करें!

७१— अपूर्व और सातिशय दृष्टि ज्ञान और तत्त्व आराधना को धारण करके भव्यों को उत्तम, मंगल और शरणरूप सन्मार्ग दर्शानेवाले गुरुदेव आप हमारे लिये अविनाशी मंगल प्रदान करें।

शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी
मोक्षमार्गी श्रमण

शुभोपयोगी को भी श्रमण कहा है, किन्तु शुभोपयोग वह धर्म नहीं है।

[प्रवचनसार गाथा २४५ के प्रवचन से]

प्रश्न—मोक्षमार्गी श्रमण कैसे हैं?

उत्तर—जिन्होंने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उसमें लीनता प्रगट की है, अर्थात् एकाग्रता प्रगट की है, वे श्रमण हैं। वे श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं।

प्रश्न—उन श्रमण को शुभोपयोग होता है या नहीं होता?

उत्तर—वे श्रमण जब शुद्धोपयोग भूमिका में लीन नहीं रह पाते, तब उन्हें शुभोपयोग भी होता है।

प्रश्न—शुद्धोपयोगी भी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी श्रमण हैं—ऐसा कहा है; इसलिए जिन्हें-जिन्हें शुभोपयोग हो, वे सब श्रमण हैं - यह बात ठीक है ?

उत्तर—नहीं; यहाँ अकेले शुभोपयोग की बात नहीं है। जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त अत्यन्त स्वरूप-लीनता प्रगट हुई है—ऐसा जीव जब शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकता, तब शुभोपयोग में वर्तता है; उसे श्रमण कहा है; परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है और शुभराग को ही धर्म मानकर उसी में वर्तता है—ऐसे शुभोपयोगी को श्रमण नहीं कहते; जो शुभराग को धर्म समझते हैं, उन्हें श्रमणपना तो अत्यन्त दूर रहा, सम्यग्दर्शन भी उन्हें नहीं है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक की चारित्र दशावाले शुभोपयोगी श्रमण को जो शुभराग है, वह तो धर्म है न ?

उत्तर—नहीं; शुभोपयोगी श्रमण को जो शुभराग है, वह भी आस्रव ही है, वह धर्म नहीं है।

प्रश्न—तो धर्म क्या है ?

उत्तर—धर्म तो शुद्ध आत्मपरिणति है; जितनी वीतरागी शुद्ध परिणति है, उतना धर्म है और उतना ही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न—शुद्धोपयोगी जीव कैसा है ?

उत्तर—शुद्धोपयोगी जीव निरास्रव है, वह साक्षात् श्रमण है; वह मोक्षमार्ग में अग्रसर है-प्रधान है।

प्रश्न—शुभोपयोगी श्रमण कैसा है ?

उत्तर—शुभोपयोगी श्रमण आस्रवसहित है, और उन्हें मोक्षमार्ग में पीछे से (अर्थात् गौणरूप से) लिया गया है।

प्रश्न—जिन्हें पीछे से गौणरूप से लिया गया है—ऐसे शुभोपयोगी श्रमण कैसे हैं ?

उत्तर—वे शुद्धोपयोग भूमिका के 'उपकण्ठ' पर स्थित हैं, शुद्धोपयोग के पड़ोस में हैं।

प्रश्न—शुद्धोपयोग के उपकण्ठ पर स्थित हैं—इसका क्या अर्थ ?

उत्तर—उन शुभोपयोगी श्रमण को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त चारित्रदशा भी प्रगट हुई है। जब शुद्धोपयोग में एकाग्र नहीं रह सकते, तब उन्हें शुभोपयोग होता है; किन्तु उस शुभोपयोग को वे धर्म नहीं मानते; अल्प काल में ही उस शुभ को छेदकर शुद्धोपयोग में स्थिर होंगे;

इसलिए उन शुभोपयोगी श्रमण को शुद्धोपयोग के उपकण्ठ पर (किनारे पर) स्थित कहा है।

प्रश्न—अज्ञानी को भी शुभोपयोग होता है, तो उसे शुद्धोपयोग के उपकण्ठ पर (किनारे पर) क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर—क्योंकि वह अज्ञानी तो शुभोपयोग को ही धर्म मानकर (अथवा उसे धर्म का सच्चा साधन मानकर) उस शुभराग में ही निमग्न हैं; वे शुभ से पार ऐसी शुद्ध भूमिका को जानते ही नहीं हैं; शुभ में ही अटक रहे हैं, इसलिए उन्हें शुद्धोपयोग के उपकण्ठ पर स्थित नहीं कहा जाता। उन्हें शुद्धोपयोग निकट नहीं किन्तु दूरातिदूर है। शुद्धोपयोग के उपकण्ठ पर तो उन्हीं को कहा जाता है कि जिन्हें उसका भान हो और निकट भविष्य में ही वह प्रगट होना हो।

प्रश्न—शुभोपयोग धर्म है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; शुभोपयोग धर्म नहीं है।

प्रश्न—यदि शुभोपयोग धर्म नहीं है तो धर्मरूप परिणमित श्रमणों को भी वह शुभोपयोग क्यों होता है ?

उत्तर—शुभोपयोग स्वयं धर्म नहीं है, तथापि उसे धर्म के साथ 'एकार्थ समवाय' है, इसलिये धर्मरूप परिणमित श्रमणों को भी वह शुभोपयोग हो सकता है।

प्रश्न—'एकार्थ समवाय' का अर्थ क्या ?

उत्तर—शुभोपयोग और धर्म—यह दोनों यद्यपि एक ही पदार्थ नहीं हैं, तथापि वे दोनों एक वस्तु में नीचली भूमिका में एक साथ रह सकते हैं, इसलिए उनको एकार्थ समवायपना है।

प्रश्न—यदि शुभोपयोग स्वयं धर्म नहीं है, तो फिर शुभोपयोगियों को श्रमण क्यों कहा है ?

उत्तर—उन शुभोपयोगियों को भी धर्म का सद्भाव होने से वे श्रमण हैं। शुभ के कारण नहीं किन्तु उसी समय साथ में वर्तती हुई शुद्ध परिणतिरूप धर्म के कारण उन्हें श्रमणपना है। शुभ के समय जिसे धर्म का सद्भाव नहीं है, वह शुभोपयोगी होने पर भी श्रमण नहीं है।

प्रश्न—शुद्धोपयोगी श्रमण और शुभोपयोगी श्रमण—वे दोनों समान हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं; वे दोनों एक-से समान कोटि के नहीं हैं।

प्रश्न—तो उनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दर्शनादि की अपेक्षा से उनमें समानता है, तथापि श्रमण शुद्धोपयोगी हैं वे निरास्रव हैं और जो शुभोपयोगी हैं, वे किंचित् कषायकण प्रवर्तमान होने के कारण सास्रव ही

हैं; इसलिए उन्हें शुद्धोपयोगियों के साथ नहीं लिया जाता, किन्तु पीछे से-गौणरूप से ही लिया जाता है।

प्रश्न—इस बात पर से कौन-सा सिद्धान्त निश्चित होता है ?

उत्तर—इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि—शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है; वही धर्म है; उसके साथ बीच में शुभोपयोग हो, वह मोक्षमार्ग नहीं है, वह धर्म नहीं है।

प्रश्न—शुद्धोपयोगी श्रमण कैसे हैं ?

उत्तर—वे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने में एकाग्र हैं।

प्रश्न—शुभोपयोगी श्रमण कैसे हैं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन-ज्ञान के उपरान्त तीन कषाय के अभावरूप चारित्रदशा श्रामण्य होने पर भी उन्हें अभी किंचित् कषाय वर्तती है, उतना बन्धन भी होता है, इसलिए उस शुभ को बन्ध का ही कारण जानना चाहिये, वह मोक्ष का कारण नहीं है।

प्रश्न—शुद्धोपयोगी मुनि कौन-से गुणस्थान में होते हैं ?

उत्तर—शुद्धोपयोगी मुनि सातवें गुणस्थान में या उससे ऊपर होते हैं।

प्रश्न—शुभोपयोगी मुनि कौन-से गुणस्थान में होते हैं ?

उत्तर—शुभोपयोगी मुनि को छठवाँ गुणस्थान होता है। किन्तु वे मुनि उसी गुणस्थान में अधिक काल तक नहीं रहते; अल्पकाल में ही उस शुभ को तोड़कर शुद्धोपयोग में—सातवें गुणस्थान में आते हैं। यदि अधिक काल तक शुभ में ही बने रहें और शुद्ध में न आवें तो वे मुनिपने से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। मुनि को छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है... बारम्बार निर्विकल्प होकर शुद्धोपयोग में अतीन्द्रिय आनन्द का साक्षात् वेदन करते हैं। — ऐसी ही मोक्षमार्गी श्रमणों की दशा है।

शुद्धोपयोगी साक्षात् मोक्षमार्गी श्रमण—
भगवन्तों को नमस्कार हो!

एक ही बार में.....

आत्मार्थी को एक ही बार में यह बात बैठना चाहिये कि मुझे अपने स्वद्रव्य का अवलम्बन ही शुद्धता का कारण है; इसके सिवा किसी भी परद्रव्य का अवलम्बन अशुद्धता का कारण है। मेरी शांति यदि पर के अवलम्बन से हो, तब तो मैं पराधीन हो जाऊँ; पराधीनता में शांति कहाँ से हो सकती है ? मेरी शांति तो स्वाधीन है; मैं स्वद्रव्य का जितना अवलम्बन करूँ, उतनी ही शुद्धि और शांति होगी।

जो आत्मार्थी हो–आत्मा की शुद्धि–शांति और मुक्ति करना चाहते हों, उन्हें परद्रव्य के अवलम्बन को अशुद्धता का कारण जानकर उसे छोड़ देना चाहिये और स्वद्रव्य के अवलम्बन को शुद्धता का कारण जानकर उसमें एकाग्रता करना चाहिये।

जितना स्वद्रव्य का अवलम्बन है, उतना मोक्ष का ही कारण है। और—

जितना परद्रव्य का अवलम्बन है, उतना बंध का ही कारण है; इसलिये हे जीवो! स्वद्रव्य का अवलम्बन करो और परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ो।

श्री वीतरागी देव–गुरु तो ऐसा स्वद्रव्य के अवलम्बन का ही उपदेश देते हैं। वह उपदेश झेलकर जिसने स्वद्रव्य का अवलम्बन किया, उसी ने देव–गुरु का उपदेश माना है। और स्वद्रव्य का अवलम्बन करने के बदले जिसने परद्रव्य के अवलम्बन से लाभ माना, उसने श्री देव–गुरु की आज्ञा का पालन नहीं किया।

श्री वीतरागी देव–गुरु की आज्ञा है कि — हे जीवो! शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वद्रव्य का अवलम्बन ही शुद्धता का कारण है; इसलिए स्वद्रव्य का अवलम्बन करो, और परद्रव्य का अवलम्बन अशुद्धता का कारण है, इसलिए उसे छोड़ो! —यही मुक्त होने का उपाय है।

तीक्ष्णबुद्धि और शुद्धदृष्टिवाले

उत्तम पुरुष किसे भजते हैं ?

आत्मा का स्वभाव सहज गुणमणि की खान है और क्षणिक पर्याय में परभाव भी है। परभाव होने पर भी तीक्ष्ण दृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष उसे नहीं भजता किन्तु सहज गुणनिधान शुद्ध आत्मा को ही वह भजता है। देखो, यह तीक्ष्ण बुद्धि और शुद्ध दृष्टि। जो जीव, राग को भजता है—राग से लाभ मानता है, आदर करता है, उसकी तीक्ष्ण बुद्धि नहीं किन्तु स्थूल बुद्धि है–मोटी बुद्धि है; उसे शुद्ध दृष्टि नहीं किन्तु अशुद्ध दृष्टि है। अहा! विभाव होने पर भी अन्तर का सहज स्वभाव उससे पार परम सूक्ष्म है–उसे जाननेवाला ज्ञान ही तीक्ष्ण बुद्धि है, तथा उसे देखनेवाली दृष्टि ही शुद्ध दृष्टि है—ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि और शुद्ध दृष्टिवाला जीव शुद्धात्मा को ही भजता है; अन्य परभावों को नहीं भजता। इसप्रकार शुद्ध–आत्मा के भजन से वह जीव मोक्षपद को प्राप्त करता है।

—इसलिये हे भव्यजीव! हे भव्य शार्दूल! तू भी उस शुद्ध आत्मा को ही भज! तेरे हृदय कमल में कारणपरमात्मा विराजमान है, उसी को तू भज। अहा, उत्तम पुरुष अपने अंतर कमल में विराजमान कारणपरमात्मा को ही भजते हैं। हे भव्य शार्दूल! ऐसे जिस कारणपरमात्मा को तू भज रहा है, उसी को उग्ररूप से भज। तू वही है। तू स्वयं ही कारणपरमात्मा है, उसके भजन से तेरा मोक्षरूपी कार्य होगा। इसप्रकार शुद्ध दृष्टिवाले जीव, तीक्ष्णबुद्धिवाले, भव्योत्तम जीव, अपने हृदय में स्थित भगवान कारणपरमात्मा को ही भजते हैं; और परभाव होने पर भी (व्यवहार होने पर भी) उसे नहीं भजते।

बस, यह कारणपरमात्मा का भजन ही मोक्ष का उपाय है; इसके अलावा परभावों का भजन मोक्ष का उपाय नहीं है। ऐसा जानकर हे भव्य शार्दूल! उस कारणपरमात्मा को ही तू अपने अंतर में भज। [नियमसार, कलश २४–२५ के प्रवचन से]

जिससे संसार का अंत होकर मोक्ष प्राप्त हो

ऐसी बात

[वर्द्धमानपुरी में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

—वैशाख शुक्ला पंचमी, वीर सं० २४८४—

(समयसार, गाथा-७२)

प्रथम जीव को ऐसी उत्कंठा जागृत होना चाहिये और आत्मा की धुन लगना चाहिये कि अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन किये बिना इस जन्म-मरण से छुटकारा नहीं हो सकता; इसलिये सम्यग्दर्शन करने योग्य है।—इसप्रकार आत्मा के सम्यग्दर्शन की सच्ची उत्कंठा जागृत हो तो अंतर में उसका मार्ग ढूँढ़े। फिर वह जीव बाह्य संयोगों में या विकल्पों में सुखबुद्धि नहीं करता - उनमें आत्मा को बाँध नहीं देता; किन्तु उनसे पृथक् ही रह कर बारम्बार ज्ञानस्वभावोन्मुख होता रहता है। ऐसे अंतर् प्रयत्न से आत्मा का अनुभव होता है.... तथा उसी से संसार का अंत होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यह समयसार शास्त्र की वचनिका हो रही है। 'समय' अर्थात् आत्मा, उसमें 'सार' सो शुद्ध आत्मा है; अर्थात् शुद्ध-आत्मा 'समयसार' है और उसे बतलानेवाला यह शास्त्र 'समयसार' है। समयसार अर्थात् आत्मा का शुद्धस्वभाव क्या है, उसे जाने बिना, जीव अनादि से अज्ञानभाव के कारण संसार में भटक रहा है; वह परिभ्रमण कैसे दूर हो—उसकी यह बात है।

क्षणिक रागादिभाव होने पर भी चैतन्यस्वभाव रागमय नहीं हो गया है। राग से पार चैतन्यतत्त्व की दृष्टि के बिना अज्ञानी जीव ऐसा रागमय अनुभव करता है कि—अकेला क्षणिक राग ही मैं हूँ। आचार्यदेव उसे समझाते हैं कि अरे भाई! तेरा आत्मा राग से भिन्न स्वभाववाला है। जिसप्रकार काई पानी से भिन्न है, उसीप्रकार रागादिभाव तेरे चैतन्यस्वभाव से भिन्न हैं; रागादि तो मलिन हैं और चैतन्यस्वभाव पवित्र है; वे दोनों एकमेक नहीं किन्तु पृथक् हैं। इसलिये अपने आत्मा को राग से भिन्न जान। आत्मा और रागादि का भेदज्ञान करने से ही संसार का अंत होकर मोक्ष की प्राप्ति होगी।

तब शिष्य पूछता है कि प्रभो! इसप्रकार भेदज्ञान से ही संसार किस प्रकार अटक जाता है? रागादिभाव दु:खदायक हैं तथा निरोध करने योग्य हैं; उस राग से पार चैतन्य का अनुभव करने पर

ही मेरे भवभ्रमण का अंत होगा—ऐसा लक्ष में लेकर, किसी भी प्रकार सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने की जिसे उत्कंठा जागृत हुई है, ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा और रागादि को भिन्न जानने से ही संसार अटक जाता है वह कैसे?

ऐसे शिष्य को उत्तर देते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयं भावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥७२॥

आत्मा का स्वभाव तो जागृत चैतन्यरूप है; वह तो पवित्र है; और आस्रव अर्थात् शुभाशुभ वृत्तियाँ उससे विपरीत-अपवित्र हैं। चैतन्यस्वभावोन्मुख होने से तो शांत अनाकुल सुख का वेदन होता है और रागादि में तो आकुलतारूप दुःख का वेदन है—इसप्रकार जो जीव यथार्थरूप से जानता है, वह आस्रवों को अपवित्र, विपरीत और दुःखरूप जानकर उनसे विमुख होता है अर्थात् उनमें एकताबुद्धि को छोड़ता है; और चैतन्यस्वभाव को पवित्र सुखरूप जानकर उसमें अंतर्मुख होता है—एकतारूप परिणमन करता है। इसप्रकार जब भेदज्ञान द्वारा आस्रवों से निवृत्त होता है, तब उसका संसार अटक जाता है और मुक्ति होती है।

देखो, यह भेदज्ञान! जिससे संसार का अंत होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। एक क्षण का भेदज्ञान अनंत संसार का नाश करके अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त कराता है। अहो! जीव को अनादिकाल से भेदज्ञान की महिमा भासित नहीं हुई और बाह्य क्रिया अथवा बाह्य शुभाशुभभावों की महिमा कर रहा है। जिसकी महिमा करेगा, उससे विमुख क्यों होगा? और चैतन्य की महिमा को जाने बिना उसमें अंतर्मुख कैसे होगा? अहो, मैं तो ज्ञायक हूँ, मेरा आत्मा ही मेरे सुख का कारण है—ऐसा निर्णय करके अंतर्मुख होना ही बंधन से छूटने का उपाय है। अरे जीव! एक बार तो ऐसा निर्णय कर कि अपने आत्मा में अंतर्मुख होना ही मुझे सुख का कारण है और बहिर्मुखवृत्ति दुःख का। संयोग मुझे सुख-दुःख का कारण नहीं हैं, किन्तु संयोगों की ओर के बहिर्मुखभाव ही मुझे दुःख के कारण हैं तथा अंतरस्वभावोन्मुखता सुख का कारण है; इसलिये बहिर्मुखभाव छोड़कर ज्ञायकस्वभाव में अंतर्मुख होना योग्य है।—ऐसा यथार्थ निर्णय भी पहले कभी नहीं किया है। यदि अंतर के अपूर्व प्रयत्न से ऐसा निर्णय करे तो उस निर्णय के बल से अंतर्मुख हुए बिना न रहे। प्रथम तो जीव को ऐसी उत्कंठा जागृत होना चाहिये और आत्मा की धुन लगना चाहिये कि अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन किये बिना इस जन्म-मरण से छुटकारा नहीं होगा। इसलिये सर्व उद्यम से सम्यग्दर्शन करने योग्य

है।—इसप्रकार आत्मा के सम्यग्दर्शन की सच्ची उत्कंठा जागृत हो तो अंतर में उसका मार्ग ढूँढ़े। फिर वह जीव बाह्य संयोगों में या विकल्पों में सुखबुद्धि नहीं करता—उसमें आत्मा को बाँध नहीं देता, किन्तु उससे पृथक् रहकर बारम्बार ज्ञानस्वभावोन्मुख होता रहता है। ऐसे अंतर प्रयत्न के बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता और आत्मा के अनुभव बिना भवभ्रमण का अंत नहीं आता।

अंतर्मुख लक्ष करे तो समझ में आये कि इन रागादि वृत्तियों में शांति नहीं है किन्तु आकुलता है, और चैतन्यस्वभाव शांत-अनाकुल स्वाद से भरपूर है; उस स्वभाव की ओर उन्मुख होने से शांत अनाकुल स्वाद का वेदन होता है।—इसप्रकार स्वाद के भेद से आत्मा और राग की भिन्नता का निर्णय होता है। और जहाँ दोनों के स्वाद को भिन्न जाना, वहाँ ज्ञान राग के स्वाद में नहीं रुकता किन्तु अंतर्मुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। इसप्रकार अंतर्मुख भेदज्ञान द्वारा ही आत्मा, आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। आस्रवों के स्वाद को अपने से विपरीत जाना, फिर ज्ञान उसमें क्यों रुकेगा?—नहीं रुकेगा अर्थात् उससे विमुख हो जायेगा।—इसप्रकार भेदज्ञान होते ही आत्मा संसार से निवृत्त होकर मोक्ष की ओर परिणमन करने लगता है। ऐसा भेदज्ञान, सो धर्म है।

सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा और आस्रव के बीच विवेक होते ही जीव की विकारबुद्धि छूट जाती है अर्थात् विकार से लाभ होता है, ऐसी बुद्धि उसे नहीं रहती। जिसप्रकार अंधकार में किसी पुरुष को अनजान स्त्री के प्रति विकार भाव उत्पन्न हो जाये, किन्तु जब प्रकाश होने पर उसे मालूम हो कि अरे, यह तो मेरी माता है!! वहाँ तुरन्त उसकी विकार वृत्ति छूट जाती है और माता के प्रति आदरभाव उत्पन्न होता है। देखो, ज्ञान होते ही विकारबुद्धि छूट गई; उसमें कुछ करना नहीं पड़ा। उसीप्रकार अज्ञान से अंध हुआ जीव चिदानन्दस्वभाव को भूलकर रागादि वृत्ति को सुखरूप मानता है—उसकी रुचि करता है; किन्तु चिदानन्दतत्त्व की रुचि—दृष्टि नहीं करता। जहाँ सत्समागम से लक्ष हुआ कि अरे, यह विकार तो मुझे दु:खरूप है—मलिन है और मेरा चैतन्यस्वभाव उससे पृथक् है—पवित्र है तथा वही मुझे सुखरूप है, वहाँ अन्तर्स्वभाव के प्रति आदरभाव होता है और विकारबुद्धि छूट जाती है। चैतन्यस्वभाव की ओर रुचि ढल गई, वहाँ विकारीभावों की प्रीति स्वप्न में भी नहीं रहती।—इसप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा आत्मा आस्रवों से विमुख हो जाता है। यही धर्म का उपाय है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के बिना दूसरा सब कुछ जीव अनन्त बार कर चुका है, किन्तु मोक्ष का मार्ग उसके हाथ नहीं लगा। आचार्य भगवान कहते हैं कि—प्रभु! तेरी मुक्ति का मार्ग तेरे आत्मा से प्रारम्भ होता है, बाहर से तुझे मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता; इसलिये अन्तर्स्वभाव की

ओर उन्मुख हो। मुक्ति का मार्ग अन्तर्मुख है—'अन्तर्मुख अवलोकतां विलय थतां नहि वार।' अन्तर्स्वभाव में अवलोकन करने से अनादिकालीन संसार क्षणमात्र में विलय हो जाता है।

आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति है—ऐसा जानकर, श्रद्धा करके, उसमें लीन होकर जिन्होंने अपनी पूर्णानन्दशक्ति को व्यक्त किया—ऐसे जिनदेव सर्वज्ञपरमात्मा कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा में ऐसी परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है; उसका अन्तर्-अवलम्बन करने से सदोषता दूर होकर निर्दोषता प्रगट होती है। सदोषता अर्थात् राग-द्वेष-अज्ञानता कहीं स्थायी वस्तु नहीं है, किन्तु स्थायी गुणों की क्षणिक विकृति है। वह विकृति दूर होकर स्थायी गुण के आधार से निर्दोष दशा प्रगट होती है। किन्तु अज्ञानी जीव अपने को उस क्षणिक विकृति जितना ही मानकर उसका अनुभव कर रहा है और उसके पीछे जो पूर्ण अविकारी गुण विद्यमान है, उसे भूल रहा है; इसलिये उसे अपने गुण की अविकारी शांति का वेदन नहीं होता। शुद्ध स्वभावोन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करने से शुद्धता प्रगट होती है; उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है; उसे धर्म कहते हैं। धर्म की रीति क्या है—वह अज्ञानी जीव नहीं समझते तो फिर धर्म करें कहाँ से? धर्म की यथार्थ रीति को जाने बिना अनादि से बाह्यदृष्टि के कारण अन्य प्रकार से (जड़ की क्रिया में और पुण्य में) धर्म मान लिया है, किन्तु उससे जीव के भवभ्रमण का अन्त नहीं आया। भाई, तेरा धर्म तेरी चैतन्यशक्ति में से आयेगा या राग में से? राग में से धर्म नहीं आ सकता। राग के आधार से तो बन्धन होता है। चैतन्यस्वभाव ही धर्म का आधार है। बन्धनभाव का सेवन करते-करते मोक्ष का मार्ग प्रगट हो जाये—यह कैसे हो सकता है?—कभी नहीं हो सकता। इसलिये जिसे बन्धन की—राग की रुचि है, उसे आत्मा के अबन्धस्वभाव की रुचि नहीं है, किन्तु अरुचि है अर्थात् आत्मा के प्रति क्रोध है। जिसके ज्ञान में राग की रुचि है, उसके ज्ञान में चैतन्य की नास्ति है; क्योंकि उसके ज्ञान में राग से भिन्न चैतन्य का अस्तित्व भासित नहीं हुआ है। यहाँ ज्ञानी-सन्त अपने अनुभवपूर्वक चैतन्य और राग की भिन्नता समझाते हैं। अरे, जीव! राग से भिन्न चिदानन्दतत्त्व के अनुभव की यह बात सुनकर अन्तर में उसका उत्साह और प्रेम प्रगट कर! चैतन्य की बात का श्रवण भी जीव ने कभी उत्साहपूर्वक नहीं किया। यह बात सुनानेवाले तो अनन्त बार मिले किन्तु जीव ने चैतन्य के उत्साहपूर्वक कभी श्रवण नहीं किया; राग के उत्साहपूर्वक ही श्रवण किया है। यदि राग का उत्साह छोड़कर एकबार चैतन्य के उत्साहपूर्वक श्रवण करे तो अल्पकाल में स्वभाव का अनुभव प्रगट होकर भव का अन्त आये बिना न रहे।

अपने चिदानन्दस्वभाव की महिमा आने पर, रागादि विकार की महिमा छूट जाती है, इसलिये जीव उस विकार से विमुख होकर स्वभावोन्मुख होता है;—इसप्रकार सम्यग्ज्ञान होते जी जीव, विकार से निवृत्त हो जाता है। यदि विकार से निवृत्त न हो अर्थात् उससे विमुख होकर स्वभावोन्मुख न हो तो उस जीव को स्वभाव और विकार का भेदज्ञान ही नहीं हुआ है। भेदज्ञान का कार्य यह है कि चैतन्यस्वभाव में वर्ते और विकार से निवर्तन करे। यदि ऐसा कार्य न करे और अनादिकाल से जिसप्रकार विकार में वर्तता आ रहा है, उसीप्रकार वर्तता रहे तो अनादिकालीन अज्ञान से उस ज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ा है अर्थात् वह ज्ञान सम्यक् नहीं हुआ है किन्तु मिथ्या ही है। सम्यग्ज्ञान होने पर तो आत्मा की परिणति विकार से विमुख होकर स्वभावोन्मुख हो जाती है। पण्डित बनकर शास्त्र पढ़े, किन्तु ऐसा सम्यग्ज्ञान जीव ने कभी एक क्षण भी प्रगट नहीं किया। अरे, यह बात तो उन जीवों के लिये है जिन्हें भवभ्रमण की थकान का अनुभव हुआ हो और जो आत्मा को समझने के अभिलाषी हों। जिन्हें भवभ्रमण की थकान लगी हो और चैतन्य की शांति चाहते हों, ऐसे आत्मार्थी जीव ही इस बात को समझ सकते हैं। जिन्हें पुण्य में और उसके फल में सुख भासित होता हो, जगत के कार्य मुझसे होते हैं, ऐसी बुद्धि का पोषण हो रहा हो—ऐसे जीवों को अन्तर्स्वभाव की यह बात कैसे गले उतरेगी? लेकिन यह बात समझे बिना भवभ्रमण का अन्त नहीं आ सकता। इसलिये हे भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा लाकर, रुचिपूर्वक यह बात समझने योग्य है। ऐसा मनुष्य जीवन बारम्बार नहीं मिलता; यदि जीवन में आत्महित की दरकार नहीं की तो अवतार पूरा होने पर कहाँ जायेगा? आत्मस्वभाव को समझे बिना जीव को बाह्य में कोई शरणभूत नहीं हो सकता। इसलिये ऐसे मनुष्य अवतार में आत्मा की दरकार करना चाहिये कि अरे! मेरा आत्मा इस संसार के जन्म-मरण से कैसे छूटेगा? आत्मा को समझने का ऐसा यथार्थ उपाय करूँ कि जिससे अल्पकाल में मेरा आत्मा इस जन्म-मरण से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर ले। इस प्रकार जो आत्मा की जिज्ञासा प्रगट करके समझना चाहे, उसे यथार्थ समझ और सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। और एकबार भी जिसने सम्यग्दर्शनरूपी छैनी द्वारा मोह ग्रन्थी को छेद डाला उसके संसार का मूल छिद गया। जिसप्रकार जड़ कट जाने से वृक्ष की डालियाँ और पत्ते भी अल्पकाल में सूख जाते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन द्वारा संसार का मूल छिद जाने पर अल्पकाल में ही रागादि का सर्वथा अभाव होकर जीव मुक्ति प्राप्त करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन द्वारा ही जीव बन्धन से छूटकर मुक्ति प्राप्त करता है; इसलिये सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष का मूल उपाय है।—ऐसा जानकर मोक्षार्थी जीवों को उसका प्रयत्न करना चाहिये।

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

धर्मात्मा का सुयोग

वैशाख सुदी २..... यह आत्मार्थी जीवों के लिये धन्य दिन है। उस मंगल दिन में अध्यात्म योगी सत्पुरुष का मंगल अवतार हुआ.... और उन्हीं के प्रताप से इस विश्व में महान दुर्लभ ऐसे धर्मात्मा का योग जिज्ञासु जीवों के लिये सुयोग रूप से संप्राप्त हुआ। इस जगत में अन्य योग तो सुगम हैं किन्तु धर्मात्मा का योग और उनकी पहिचान बहुत दुर्लभ है।

गुरुदेव का ७१ वाँ जन्मोत्सव प्रसंग—जन्मभूमि धाम—'उमराला' नगर में इस साल बड़े भारी उत्साह के साथ बड़ी संख्या में एकत्र होकर भक्त जनों द्वारा मनाया गया है।

शुद्धात्मानुभव, सो जिनशासन

संसारभ्रमण करते हुए जीव को शेष रहा एक ही कार्य

[बाहुबली (कारंजा) क्षेत्र में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन; ता. २०-२-५९]

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे और भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर उन्होंने इस समयसार शास्त्र की रचना की है। उसकी पन्द्रहवीं गाथा में जैन शासन का दोहन करते हुए कहते हैं कि—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

कैसे आत्मा को जानने से जैनशासन को जाना कहा जाता है ?—कर्मबंधन तथा पर के सम्बन्ध से रहित जो एकरूप आत्मस्वभाव, उसे जान लेने से जैनशासन को जाना कहा जाता है। पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से आत्मा को जाने तो उसमें सच्चा जिनशासन नहीं आता। जिनशासन का सार, जिनशासन का हार्द यह है कि आत्मा का पर के सम्बन्ध रहित भावश्रुतज्ञान से अनुभवन करें। ऐसे आत्मा का जो अनुभव है, वही जैनशासन है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि अरे आत्मा ! भावश्रुत को अंतरोन्मुख करके अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव कर, वही सर्व जिनशासन का सार है, तथा वही दिव्यध्वनि का सार है। जिनशासन में सर्वज्ञ देव कथित जो द्रव्यश्रुत है, उसका सार क्या है ?—तो कहते हैं कि शुद्ध आत्मा का भावश्रुतज्ञान से अनुभवन करना ही सर्व द्रव्यश्रुत का सार है; इसलिए जिसने शुद्ध आत्मा का अनुभव किया, उसने जिनशासन का सर्व द्रव्यश्रुत जान लिया। और जिसने भावश्रुत से अपने शुद्ध आत्मा को नहीं जाना, उसने जिनशासन का द्रव्यश्रुत भी वास्तव में नहीं जाना है। अनंत बार शास्त्र पढ़े, महाव्रत धारण करके द्रव्यलिंगी भी अनंत बार हुआ, किन्तु श्रुतज्ञान को अंतर्मुख करके आत्मा को नहीं जाना, इसलिये उसका हित नहीं हुआ; उसने वास्तव में जैनशासन को नहीं जाना है।

निश्चयस्वभाव के अनुभव बिना मात्र व्यवहार को जानने में रुके तो उसे जैन शासन का पता नहीं चलता। अपने को अबंधस्वभावी आत्मा का अनुभव हो सकता है और भावश्रुत के स्वसंवेदन से उसका नि:शंक निर्णय भी होता है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान ऐसा अन्धा नहीं है कि स्वयं को अपनी खबर न पड़े। सम्यग्ज्ञान होते ही नि:शंकरूप से स्वयं को उसकी खबर पड़ती है। जिसे

अपने ज्ञान में सन्देह है, हमें सम्यग्दर्शन होगा या नहीं—ऐसा जिसे शंका है, वह भले ही बाह्य में त्यागी हो, तथापि वह साधु नहीं है, वह धर्मी नहीं है, वह व्रती-श्रावक नहीं है, पण्डित नहीं है। अभी तो, आत्मा का ज्ञान हुआ है या नहीं—इसमें भी जिसे शंका है, उस जीव को एक भी धर्म नहीं है, क्योंकि जैनशासन का सार तो यह है कि अपने शुद्ध आत्मा को शुद्धनय द्वारा जानना। ऐसे आत्मज्ञान के बिना अन्य चाहे जो करे किन्तु वह कोई सच्चा उपाय नहीं है। सच्चा उपाय जाने बिना अभी तक अन्य सबकुछ अनंत बार किया।—क्या क्या किया? तो कहते हैं कि—

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास रह्यो मुख मौन ग्रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद किये;
वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो...
अब क्यों न विचारत है मन में कछु ओर रहा उन साधन सें...
बिन सद्गुरु कोइ न भेद लहे मुख आगल है कह बात कहे!

अरे जीव! विचार तो कर कि यह सब अभीतक किया, तथापि किंचित् सुख-शांति या धर्म तेरे हाथ में नहीं आया; तुझे अभी आत्मा की निःशंकता नहीं हुई; जैनशासन क्या है, उसे तू अभी तक नहीं समझा; उसमें कौन-सा वास्तविक साधन रह गया? यही बात यहाँ आचार्य भगवान बतलाते हैं कि भावश्रुत को अंतरोन्मुख करके तू अपने शुद्ध आत्मा को जान क्योंकि—

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

इसलिये हे भाई! तू पहली बार यह जान कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान क्या वस्तु है? तथा किसप्रकार उसकी प्राप्ति होती है? तुझे अपने आत्मा की शांति या सम्यग्दर्शन के लिये विकार व्यर्थ है... तूने अनंतबार शुभभाव किये, किन्तु उससे तुझे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ; क्योंकि शुभराग कहीं सम्यग्दर्शन का उपाय नहीं है; सम्यग्दर्शन का उपाय तो यह है कि पर के सम्बन्धरहित अपने एकरूप शुद्ध आत्मा को भावश्रुतज्ञान द्वारा स्वानुभव में लेना चाहिये। अकेले गुरु के शब्दों से भी ऐसा स्वानुभव नहीं होता, किन्तु अपने भावश्रुतज्ञान को अन्तरोन्मुख करने से ही आत्मा का स्वानुभव होता है, और ऐसा स्वानुभव करना ही जिनशासन है।

जिसे स्वानुभव हो, उसे अंतर से निःशंकता आ जाती है कि अब मैंने जिनशासन का हार्द

जान लिया है, मुझे आत्मा का सम्यग्दर्शन हो गया है। उस सम्यग्दृष्टि के अंतर में सर्व आगम का रहस्य वर्तता है। जिनशासन वीतरागता का उपदेश देता है और वीतरागता स्वानुभव से होती है; अर्थात् ज्ञान का स्व की ओर झुकाव होने से वीतरागता होती है, वही जैनशासन है। अन्तर्मुख भावश्रुत से अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है; ऐसा अनुभव करनेवाली श्रुतज्ञान-पर्याय आत्मा के साथ अभेद हो चुकी है, इसलिये उसी को आत्मा कहा है और उसी को जिनशासन कहा है। प्रथम ऐसी यथार्थ समझ का प्रयत्न करना चाहिये।

मोक्षमार्गी मुनिवरों के चक्षु

[प्रवचनसार गाथा २३४-३५ के प्रवचनों से]

प्रश्न-सर्वज्ञ परमात्मा कैसे हैं ?

उत्तर-सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान चक्षु परिपूर्ण विकसित हो गये हैं, इसलिये वे 'सर्वतः चक्षु' हैं। जिन्हें शुद्ध ज्ञान है, परिपूर्ण ज्ञान है, वे सर्वतः चक्षु हैं। अरहंत और सिद्ध भगवान सर्वतः चक्षु हैं।

प्रश्न-जिनके सर्वतः चक्षु नहीं खुले हैं, वे जीव कैसे हैं ?

उत्तर-जिनके सर्वतः चक्षु नहीं खुले हैं, ऐसे समस्त संसारी जीव 'इन्द्रियचक्षु' हैं; क्योंकि वे इन्द्रियज्ञान द्वारा मूर्त द्रव्यों को ही देखते हैं।

प्रश्न-देवों को तो इन्द्रिय के बिना देख पानेवाला अवधिज्ञान होता है, तो फिर उन्हें इन्द्रियचक्षुपना किसप्रकार है ?

उत्तर-देवों को अवधिज्ञान है, उस अपेक्षा से अवधिचक्षु कहलाता है, तथापि वे भी अवधिज्ञान द्वारा मात्र मूर्त द्रव्यों को ही देखते हैं, इसलिये इन्द्रियचक्षु ही हैं; क्योंकि वे उस अवधिचक्षु द्वारा भी अतीन्द्रिय शुद्ध आत्मा का संवेदन नहीं कर सकते।

प्रश्न-इन्द्रियचक्षुवाले जीव कैसे हैं ?

उत्तर-इन्द्रियचक्षुवाले यह समस्त जीव मोह द्वारा घायल हैं; इन्द्रियचक्षु द्वारा पर को ही देखते हुए वे परज्ञेय में ही स्थित वर्तते हैं; स्वतत्त्व को वे नहीं जानते; इसलिये परज्ञेयों में ही लीन वर्तते हुए वे मोह से घायल हो गये हैं; ज्ञानचक्षु की परिपूर्ण देखने की शक्ति उनके मोह के कारण नष्ट हो गई है।

प्रश्न-सर्वत:चक्षुपना किसप्रकार सधता है ?

उत्तर-शुद्धात्मतत्त्व के संवेदन से सर्वत:चक्षुपने की साधना होती है।

प्रश्न-उस शुद्धात्मतत्त्व का संवेदन किस प्रकार होता है ?

उत्तर-वह शुद्धात्मसंवेदन तो अन्तर्मुख ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही होता है; इन्द्रियचक्षु द्वारा कभी शुद्धात्म संवेदन नहीं होता।

प्रश्न-सर्वत:चक्षुपने की सिद्धि के लिये मोक्षमार्गी मुनिवरों के कैसे चक्षु होते हैं ?

उत्तर-मोक्षमार्गी ऐसे भगवंत श्रमणों को सर्वत:चक्षुपने की सिद्धि के लिये 'आगमचक्षु' होते हैं।

प्रश्न-आगमचक्षु द्वारा वे मुनिवर क्या करते हैं ?

उत्तर-वे मोक्षमार्गी मुनिवर आगमचक्षु द्वारा समस्त पदार्थों को जानकर स्व-पर का भेदज्ञान करते हैं और स्व-पर के विभाग द्वारा मोह को छेदकर वे स्वतत्त्व में ही उपयोग को जोड़ते हैं; इसप्रकार ज्ञानस्वरूप स्वतत्त्व में एकाग्र रहने से—सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहने से उनके केवलज्ञानरूप सर्वत:चक्षु खुल जाते हैं।—इसप्रकार मोक्षमार्गी मुनिभगवन्तों को आगमचक्षु द्वारा सर्वज्ञचक्षु की सिद्धि होती है।

प्रश्न-यह जानकर मुमुक्षुओं को क्या करना चाहिये ?

उत्तर-मुमुक्षुओं को आगमअनुरूप चक्षु द्वारा सबकुछ देखना अर्थात् आगमानुसार समस्त पदार्थों को यथार्थरूप से जानकर स्व-पर का भेदज्ञान करना चाहिये और स्व-पर को भिन्न जानकर ज्ञानानन्दस्वरूप ऐसे स्वतत्त्व में एकाग्र रहना चाहिये। यह सिद्धपद प्राप्ति का उपाय है और यही आगम की आज्ञा है। यही मुमुक्षुओं का कर्तव्य है।

प्रश्न-जो जीव राग से लाभ मानता है, वह कैसा है ?

उत्तर-राग से लाभ माननेवाला जीव इन्द्रियचक्षुवाला ही है; अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व को देखने के लिये वह अन्ध है; उसके अतीन्द्रियचक्षु खुले नहीं हैं किन्तु राग में लीनता के कारण मुँद गये हैं।

प्रश्न–निमित्तादि परज्ञेयों से जो लाभ मानता है वह जीव कैसा है ?

उत्तर–वह परज्ञेयों से लाभ माननेवाला जीव परज्ञेयों में ही तत्पर है; इन्द्रियचक्षु द्वारा मात्र बाह्यतत्त्वों को ही देखता हुआ वह ज्ञेयनिष्ठ ही वर्तता है, किन्तु ज्ञानचक्षु को अन्तरोनमुख करके वह ज्ञानतत्त्व को नहीं देखता; इसलिये वह भी ज्ञानतत्त्व को देखने के लिये अन्ध है। ज्ञेयों से भिन्न ऐसे ज्ञानतत्त्व को नहीं देखता, इसलिये उसे शुद्धात्मा का संवेदन नहीं होता।

प्रश्न–शुद्ध आत्मा के संवेदन से क्या साध्य है ?

उत्तर–शुद्ध आत्मा के संवेदन से सिद्धपद साध्य है; उस सिद्धपद में ज्ञानचक्षु परिपूर्ण विकसित हो गये हैं, इसलिये सर्वत:चक्षुपना है... चैतनय के असंख्य प्रदेशों में केवलज्ञानरूपी चक्षु खुल गये हैं।

प्रश्न–इन्द्रियचक्षु द्वारा क्या साध्य है ?

उत्तर–इन्द्रियचक्षु द्वारा संसार भ्रमण साध्य है; उससे सिद्धपद की साधना नहीं होती; क्योंकि इन्द्रियचक्षु द्वारा आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता; और पर से भिन्न आत्मा को न देखता हुआ वह इन्द्रियचक्षुवाला जीव परद्रव्य में ही वर्तता है और परद्रव्यप्रवृत्ति का फल संसार ही है।

प्रश्न–तो ऐसे पराधीन इन्द्रियचक्षु से छूटकर हमें स्वाधीन सर्वत:चक्षुपना प्रगट करने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर–प्रथम तो गुरुगम से आगमचक्षु द्वारा अर्थात् अन्तर्मुख भावश्रुत के अवलम्बन द्वारा–स्व और पर को अत्यन्त भिन्न जानकर मोह का भेदन कर देना चाहिये। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग करके ज्ञाननिष्ठ ही रहना चाहिये। आगमचक्षु द्वारा ज्ञाननिष्ठरूप से शुद्धात्मा के संवेदन में रहने से इन्द्रियों का अवलम्बन छूट जाता है और अतीन्द्रिय ऐसा सर्वत:चक्षुपना प्रगट होता है।

प्रश्न–आगमचक्षु किसके होते हैं ?

उत्तर–आगम अर्थात् भावश्रुत द्वारा स्व-पर का भेदज्ञान करके, ज्ञानस्वरूप स्वतत्त्व में एकाग्रता द्वारा सिद्धपद को साधते हैं, इसलिये मोक्षमार्गी मुनिवरों को 'आगमचक्षु' कहा है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि-भेदज्ञानी धर्मात्मा को भी भावश्रुत प्रगट हुआ है, इसलिये 'आगमचक्षु' खुल गये हैं; किन्तु यहाँ मोक्षमार्ग में मुनिवरों की मुख्यता है।

प्रश्न–आगम क्या है ? और उसकी आज्ञा क्या है ?

उत्तर–सर्वत:चक्षु ऐसे भगवान सर्वज्ञपरमात्मा ने प्रत्यक्ष जानकर समस्त पदार्थों का जो

स्वरूप कहा है, वह आगम है; वह आगम स्व-पर का विभाग बतलानेवाला है और स्वोन्मुख होने की उसकी आज्ञा है।

प्रश्न-जिन्हें आगम का ज्ञान नहीं है, वे जीव कैसे हैं ?

उत्तर-आगमचक्षुरहित अज्ञानी जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है; वे पर से और विकार से भिन्न ऐसे परम ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं जानते; इसलिये स्व-पर एकत्वबुद्धि के मोह से वे परद्रव्य में ही वर्तते हैं; वे मात्र इन्द्रियचक्षु से संयोगी परद्रव्यों को ही देखनेवाले हैं; किन्तु ज्ञानचक्षु को अन्तरोन्मुख करके—अन्तर्दृष्टि करके—शुद्धात्मतत्त्व को वे नहीं देखते। इसप्रकार आगमचक्षुरहित जीव अज्ञानी हैं—मोहांध हैं।

प्रश्न-आगमचक्षुवाले जीव कैसे हैं ?

उत्तर-जिनके आगमचक्षु खुल गये हैं, ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर आगमानुसार स्पष्ट तर्कणा से अर्थात् भावश्रुतज्ञान से समस्त पदार्थों को जानते हुए, श्रुतज्ञानोपयोगरूप परिणमित होते हैं। केवलज्ञानी कैसे होते हैं; मुनि कैसे होते हैं, सम्यग्दृष्टि कैसे होते हैं, साधक कैसे होते हैं, बाधक कैसे होते हैं, जीव क्या है, अजीव क्या है, उपादेय तत्त्व कौन से हैं, हेय तत्त्व कौन से हैं—इत्यादि सबकुछ आगम द्वारा सिद्ध होने से मोक्षमार्गी मुनिवर आगमचक्षु द्वारा उस सर्व को जानते हैं। इसप्रकार आगमचक्षु से सर्व पदार्थों को जानकर अपने श्रुतज्ञान को ज्ञानस्वभाव में ही परिणमित करते हुए मुनिवर मोक्षमार्ग को साधते हैं। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी भावश्रुतज्ञानरूप आगमचक्षु खुल गये हैं। इन जड़ आँखों में ऐसी शक्ति नहीं है कि पदार्थों के स्वरूप को देख सकें; आगमरूपी आँखों में ही ऐसी शक्ति है कि सर्व पदार्थों के स्वरूप को जानती हैं। मोक्षमार्गी मुनिवर ऐसे आगमचक्षु द्वारा, सर्वतःचक्षु ऐसे सर्वज्ञपद को साधते हैं।

—ऐसे सर्वज्ञचक्षुवंत श्री भगवन्त, और उनके साधक आगमचक्षुवंत श्री मुनिवर हमारे ज्ञानचक्षुओं को खोलें।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

महापात्र

आत्मा ऐसी सम्प्रदान शक्तिवाला है कि उसका स्वभाव परिणमित होकर स्वयं को केवलज्ञान प्रदान करे और स्वयं ही पात्र होकर उसे ले। किन्तु अपनी ऐसी शक्ति को भूलकर अज्ञानी ने अपने आत्मा को राग का पात्र ही मान रखा है! उसे समझाते हैं कि अरे भगवान! तेरे आत्मा में तो ऐसी शक्ति है कि राग को तोड़कर स्वयं केवलज्ञान का पात्र हो... उस शक्ति को पहिचान। अज्ञानी बारम्बार (पर्याय-पर्याय में) अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यात्वभाव से विकार को ही प्राप्त करता है; धर्मात्मा ज्ञानी तो अपने स्वभाव को पहिचान कर उसमें से बारम्बार, क्षण-क्षण, पर्याय-पर्याय में निर्मलभाव को ही लेते हैं। निर्मल पर्याय को देने की तथा उसी को लेने की आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है; परवस्तु का कुछ लेने की या उसे कुछ देने की शक्ति आत्मा में—द्रव्य में गुण में या पर्याय में—नहीं है। तथा राग का देनेवाला या लेनेवाला भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में जो क्षणिक रागादि होते हैं उन्हीं को ग्रहण करनेवाला अपने को माने तो वह जीव अपने स्वभाव में भरी हुई केवलज्ञान लेने की महान पात्रता को नहीं जानता।

[सम्प्रदानशक्ति के प्रवचन से]

आत्मा को सन्तुष्ट करने की अभिलाषा

जगत के जीवों ने जगत को सन्तुष्ट करने के लिये, उसे प्रसन्न रखने के लिये तो सब कुछ अनंत बार किया है, किन्तु मैं आत्मा यथार्थरूप से कैसे सन्तुष्ट होऊं और मेरे आत्मा को सचमुच क्या रुचता है—उसका कभी विचार तक नहीं किया, कभी दरकार तक नहीं की। जिसे सचमुच आत्मा को सन्तुष्ट करने की अभिलाषा जागृत हुई है, वह उसे अवश्य सन्तुष्ट करके ही रहेगा और उसे 'सन्तुष्ट' होना अर्थात् आनन्दधाम में पहुँचना ही होगा। यहाँ जगत के जीवों को सन्तुष्ट करने की बात नहीं है; किन्तु जो अपना हित चाहता हो, उसे क्या करना चाहिये, उसकी यह बात है। अपना स्वभाव ही ज्ञान-आनन्द से भरपूर है, उसकी श्रद्धा करे तो उसमें से कल्याण प्रगट हो; इसके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से तीन काल-तीन लोक में भी कल्याण नहीं हो सकता।

जीवों को यह बात महँगी मालूम होती है, इसलिये उनकी ऐसी विपरीत धारणा हो गई है कि कोई अन्य मार्ग अपनाने से धर्म हो जायेगा। किन्तु भाई! तू अनंत वर्षों तक बाह्य में देखता रहेगा, तब भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होगा, इसलिये पराश्रय छोड़कर स्वतत्त्व की रुचि करना... प्रेम करना... मनन करना ही सत् स्वभाव को प्रगट करने का उपाय है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जो अपना हित चाहते हों, वे ऐसा करें। जिन्हें अपना हित करना हो, उन्हें यही करना होगा।

अज्ञानी जीवों की बाह्यदृष्टि होने से वे ऐसा मानते हैं कि मैं पर का आश्रय लूँ तो धर्म हो, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! उन सबका आश्रय छोड़कर तू अंतर में अपने आत्मा की श्रद्धा कर, आत्मा को प्रगट करने का आधार अंतर में है। आत्मा की पवित्रता और उसका आनन्द आत्मा में से ही प्रगट होते हैं, बाह्य में से किसी काल प्रगट नहीं होते।

(—समयसार-प्रवचन से)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।